आशा जगाने के लिए हो पत्रकारिता

नई सदी का एक दशक (२०१०) इस वर्ष के साथ पूरा हो जाएगा जो अभी प्रारंभ हुआ है। यह वर्ष एक अर्थ में महत्वपूर्ण है। नई सदी जब प्रारंभ हुई थी तब बहुत सी आशाएं की गई थीं। वे सभी आशाएं बेहतर और सुखमय समाज और व्यक्ति को लेकर थीं। इन नौ वर्षों ने इन आशाओं को पूरा नहीं किया। बहुत से व्यक्ति अभी भी भूखे सोते हैं। युवा ही नहीं, किसान और व्यवसायी भी आत्महत्या कर रहे हैं। हिंसा, व्यक्ति तथा समूह का ही नहीं, राज्य का भी आचरण बन गया है। जीवन के मूल्य बदल गए हैं। उन मूल्यों के साथ अब लगभग कोई नहीं जीना चाहता जो दो-चार दशक या उससे पहले आदर्श के रूप में बताए जाते थे। जीवन अब स्पर्धा है, वैसे ही जैसे एक जीव अपने जीवन के लिए दूसरे जीव को निगल लेने में कोई संकोच या अनीति नहीं महसूस करता।

वर्ष के अंत में मनाए गए समारोह और उत्सव, भले ही आगत के प्रति बेहोश लोगों का मनोरंजन कहा जाए पर उसमें एक आशा की किरण तो है। आशा की किरण यह कि कल सुनहरा हो सकता है, कल आज के दु:ख का सुख में बदल सकते हैं। कल, आज से बेहतर हो सकता है। यह कहते और गाते हुए ही तो सभी ने इस सदी के पहले दशक के इस अंतिम वर्ष का आगाज किया है। यही आशा की किरण एक ज्यादा प्रसारित समाचारपत्र के पहले पृष्ठ पर प्रकाशित अतिथि संपादक के संपादकीय में भी दिखाई दी। उसका यह संपादकीय उन मूल्यों के विपरीत था जो वह अखबार इस दशक तक स्थापित करता रहा है। मानवीय मूल्यों तथा अपनी आंतरिक संभावना को बाजार और समाज के मूल्य-प्रवाह के विपरीत नहीं मानना। कामयाबी और काबलियत में से काबलियत को स्वीकार करने की पैरवी को स्वीकार करना, अपने ही निष्कर्षों को नकारना था। अपने पूर्व निष्कर्षों को पलटना, इसी से शायद वह राह शुरू होती है जो आशा जगाती है।

मीडिया का अब तक का इतिहास और उसकी भूमिका बुरे व्यक्ति और बुराई को प्रकाश में लाने की रही है। 'हिकी" से प्रारंभ हुआ यह दृष्टिकोण अब तक कायम है और यह पत्रकारिता का अर्थ बन गया है। इससे उसका अर्थ-प्रवाह भी मजबूत हुआ है। यह भी कहा गया और अपेक्षा की गई कि अखबार प्रतिपक्ष की भूमिका निभाए। यह अपेक्षा भी कम से कम पांच दशकों से तो पूरी की जाती रही है। मनोरंजन, बाजार और राजकाज में उपयोगकर्ता की संतुष्टि का ध्यान भी मीडिया ने अच्छी तरह से रखा है। इस तरह से मीडिया इन सबके सहारे 'टाइटैनिक' तो बन गया पर अब वह धीरे-धीरे अपना असर खोता जा रहा है। वह

अपनी पुरानी पटरी से इतना उतर चुका है कि अब विज्ञापन ही नहीं, खबर भी विक्रय की वस्तु बन गई है उसके लिए। उसका स्थान और समय उसके लिए है जो उसे खरीद सकते हैं।

पश्चिम में तो इस अवधारणा से भी मीडिया इस मंदी के दौर में उबर नहीं पा रहा है। रूपर्ड मर्डोक और उनकी धारणा से मेल खाने वाले ज्यादातर मालिक अब पेड कंटेंट के पक्ष में वातावरण बना रहे हैं। वहीं इस सबके बरक्स सामाजिक मीडिया की पैरवी करने वालों का भी समूह सक्रिय हुआ है और वह मानता है कि मीडिया एक जनन्यास: (पब्लिक ट्रस्ट) है और उसे जनता के सुख-दु:ख की चिंता करनी चाहिए। लास्ट न्यूज पेपर के लेखक गौरी गोल्ड हेमर की मानें तो वे कहते हैं कि यह अनुमान करना आसान है कि आजकल सामाजिक मीडिया आइसबर्ग है, जबकि समाचारपत्र टाइटैनिक जैसे हैं। रिपोर्टर तो जीवनरक्षक नौकाएं तलाश रहे हैं। भारत में यह हालात आज उस तरह के न हों पर मीडिया जिस तरह से लोगों की नजरों से उतर रहा है, उसका बहुत कुछ कारण उसका अपना बदला हुआ चोला ही है। भोपाल के पाठकों को यह अब भी याद है कि दो बड़े समाचारपत्र किस तरह झील की सेवा के लिए स्पर्धा कर रहे थे। सरोकार, मूल्य आदि की चर्चा कर रहे आज के समाचारपत्रों की प्राथमिक चिंता आज समाज है या बाजार, यह तथ्य अब पाठकों से भी छुपा नहीं है। सब जानते हैं कि यह सरोकार और मूल्यचिंता एक आवरण है। इस आवरण से अपने ही बचाव की कोशिश की जा रही है। वह कितनी कारगर होगी यह समय ही बताएगा।

हेमर ने एक बहुत अच्छा मुहावरा अपनी पुस्तक में उपस्थित किया है: जहां पत्रकारिता है वहां एक उम्मीद तो है 'व्हेयर देयर इज जर्नलिज्म, देअर इज होप। वे उन लोगों में हैं जो मानते हैं कि समाचार, बेचने से उत्पाद का चलन नहीं बढ़ सकता, हां पत्रकारों के हिस्से समाचार का दायित्व बना रहा तो उत्पाद का चलन गति पकड़ सकता हैं। वे पत्रकारों से भी कहते हैं कि लोगों की आशा बुझाने के बजाय आशा जगाने की पत्रकारिता करें। अब तक के इतिहास को देखें और आकलन करें कि इन मौजूदा स्वरूप से पत्रकारिता किस मोड़ पर आ गई है। ज्यादा नहीं, पिछले एक दशक का ही विवेचन करें तो यह साफ हो जाएगा कि पत्रकारिता से लोगों को समाज बनाने और अपना हस्तक्षेप बढ़ाने की प्रेरणायें मिली है या वे न्यस्त स्वार्थों के दृष्टिकोण को इन माध्यमों से, अपनाने को बाध्य हैं। वे यह भी मानते है कि इस तरह की पत्रकारिता मीडिया को प्रतिष्ठा ही नहीं, जीवन भी दे सकेगी।

आशा जगाने वाली पत्रकारिता कैसी होगी, इसके बारे में सचमुच ही विचार किया जाना चाहिए। यह मुश्किल नहीं है। अपने पिछले दिनों में लौटना पड़ेगा और यह भी निश्चित करना पड़ेगा कि हम जो करना चाहते है उसका ध्येय क्या है। अभी हम या तो लोगों के काले करनामों की उजागरी करते हैं या फिर उन

लोगों के चेहरे चमकाते रहे हैं जो अपने ही कारनामों से धूल-धूसरित हो गये थे। हम मीडिया को मजबूत करते-करते उन सभी को हाशिये पर करते रहे जो वस्तुत: लोकतंत्र के आधार हैं। ये लोग हाशिये पर इसलिए हैं क्योंकि उनके सामाजिक-आर्थिक आधार मजबूत नहीं हैं। जाति, धर्म, रूढ़ियां सब उन्हें बाधे हुए हैं। इन बंधनों से उनका जीवन भी बंध गया है। इन सबको तोड़ना और उन्हें फिर हाशिये से मुख्य धारा में लाने का काम मीडिया तो नहीं करेगा। यह काम तो करना होगा राज्य तथा राज्य के प्रशासनिक तंत्र को। पर तंत्र तथा व्यवस्था को उत्प्रेरित करने तथा इन बंधे लोगों को आशा के साथ समझ देने का काम तो निश्चय ही मीडिया कर सकता है। कुछ लोग ऐसा काम कर रहे हैं। पर वे भी उन लोगों का बौद्धिक मनोरंजन करते हैं जो श्रेष्ठ वर्ग में हैं। इस कार्य को करने के लिए उस वर्ग से संवाद करने की जरूरत है जो स्वयं बंधन में हैं। इसके लिए रणनीति और माध्यम का चुनाव दोनों ही बातों को समझकर अपनी भूमिका निभानी होगी। पी. साईनाथ और उनके साथी सहयोगी आशा जगाने का संवाद अभी उन लोगों के साथ कर पा रहे हैं, पर अन्य लोग नहीं। इस खामी को पाटना होगा।

ङङङङ